कपोत, कुर्सियां और चन्दनवन

(मुकुट सक्सेना की कविताएँ)

कपोत, कुर्सियां और चन्दनवन

(मुकुट सक्सेना की कविताएँ)

© मुकुट सक्सेना

प्रकाशक : बोधि प्रकाशन
146, सावरदा कॉम्प्लैक्स, खजाने वालों का
रास्ता,जयपुर- 302 001 (राजस्थान)
दूरभाष : 0141-327955, 591087

प्रथम संस्करण : जून, 2000

कीमत : 80.00 रुपये

लेज़र टाइप सैट : तरु कम्प्यूटर्स, जयपुर

आवरण : अलोक, रतलाम (म. प्र.)

संयोजन : मेधातिथि

मुद्रण : प्रिण्ट-ओ-लैण्ड, जयपुर

आवरण मुद्रण : कमला आर्ट प्रिन्टर्स, जयपुर

Kapot, kursian aur Chandanvan (Poetry) by Mukut Saxena

Rs.80.00

ISBN 81-87697-12-1

अन्तः अनुशासनीय समीक्षा के प्रवर्तक
डॉ. वीरेन्द्र सिंह को
जिन्होंने मुझे बहुत करीब से ज़ाना-समझा

अनुक्रमणिका

और माँ...

पिता
तुम्हें गए हुए
दशकों ही बीत गए
और दशकों ही बीत गए
मुझे आख़री पड़ाव तक
आते-आते
फिर भी
मैं
जब जब जहां
अपनी पहचान
स्थापित करना चाहता हूँ
तुम्हारा नाम
मेरी पहचान के लिए
जुड़ जाता है
और माँ ...
वह कभी नहीं आती
ऐसे समय
अपने को मुझ से
जोड़ने !
जुड़ती है -

होता हूँ जब भी कभी
परेशान
जीवन के जाल में फंस कर
तड़पता हूँ
छटपटाता हूँ पहरों
तब
वह अकेले में आती है
मेरे सर को
गालों को सहलाती है
मुझे ढाढस बंधाती है
और
सोते में दुलारती है
यद्यपि
दशकों ही बीत गए
उसे भी गए हुए।

□□

सन्तोष का मीठा ज़हर

कल रात देर तक
मासूम बच्चों के चेहरों का
भविष्य पढ़ते-पढ़ते
मैं सो गया
और युवाओं का एक जुलूस
सड़कों पर आ
तोड़-फोड़ में खो गया।
किसी एक अध्यापिका ने
अपने प्राण दाव पर लगा
एक बस को जलने से बचा लिया
इसका लड़कों को दुःख हुआ-
अध्यापिका ने आग को
कम क्यों किया ?
कभी-कभी तो दावानल का भड़कना भी
अच्छा होता है।
वे लोग
जो अन्धे होकर
भविष्य नहीं देख पाते
प्रकाश को भी कैसे देख सकते हैं ?
उनके अहसासों के लिए

चरागों की नहीं
अब होलियों की ही आवश्यकता है
जिस से वे ताप का अनुभव करें
और अपने भस्म होने की
सम्भावना से डरें।
सन्तोष के सुख का
मीठा ज़हर बाँटने वाले
प्रसाद के रूप में
रेबड़ियां भी बाँटते हैं
जिन्हें श्रद्धा से
स्वीकारते रहने की मजबूरी
अब भविष्य के
गले नहीं उतरेगी
समय अब
आरतियों की बजाए
हवन के पक्ष में है
उसे स्तुति नहीं
वातावरण की शुद्धि चाहिए !

द्वन्द्व आस्था का

होश संभालते ही
जाने लगा था मैं मंदिर
माँ के साथ
और अब मेरे साथ
जाता है मेरा पौत्र
पर इस कालावधि में
कभी भी तो ऐसा
नहीं हुआ
कि मैं रहा होऊँ भय-मुक्त
श्रद्धानत ईश्वर के प्रति!
मेरे समक्ष हर बार
ईश्वर
भय के रूप में ही
उपस्थित हुआ-
कि नवाओ माथ
अन्यथा
हो सकते हैं
भगवान रुष्ट
कर सकते हैं अनिष्ट
किन्तु किया नहीं कभी भी

किसी देवी-देवता ने ऐसा !
एक दिन
छत से गिर जाना
मेरी असावधानी ही थी
न कि उस दिन मेरा मंदिर न जा पाना !
मेरे अन्दर ईश्वर की
यह कैसी दहशत है
कि हर काम
मैं उसी का नाम लेकर
शुरू करता हूँ
सफल होने के लिए।
और असफल रहने पर
अपने सामर्थ्य की सीमाओं को
नज़र-अन्दाज़ कर
'उस की मर्ज़ी' कह कर
सन्तोष कर लेता हूँ।
आखिर मैं कब तक नहीं उभरुंगा
अपने ही प्रति की गई
इस घोर अनास्था से ?
मुझे ढूंढनी ही होंगी
अपनी कमियां और खूबियां
क्षमता और सीमायें।
खड़ा होना ही होगा
अपने सामर्थ्य पर,
अपने पर उपजी आस्था से ही
उपजेगी ईश्वर के प्रति आस्था! □□

बढ़ते नाख़ूनों की चुनौती

तड़-तड़-तड़
तीन गोलियां दाग
रख ली है उसने
एक गोली सुरक्षित
कल के लिए,
माँ की झिड़की के बावजूद
कि दादाजी ऐंठ देंगे कान
इस गुस्ताख़ी पर।
पर मैं
महसूसता हूँ कि
उसकी
पहली गोली
बींध गई है
मेरे बचपन के
गैंदे के फूलों के बने
कबूतर।
कबूतर- जिनकी रक्षार्थ
सर्दी में सान कर
मिट्टी में हाथ
बनाता था घरौंदे

और खाता था डाँट-फटकार पिता से।
दूसरी गोली का निशाना भी
शायद रहा ठीक,
जब खुल सकती थी मेरी आँख
और आ-जा सकता था
मैं समुद्र के पार
रात के अंधेरे में
हो सकता था वैसा
जैसा आज लोग
होना चाहते हैं।
तब क्यों पढ़ता रहा मैं
महावीर, बुद्ध, टैगोर और गांधी ?
क्यों रखता रहा
पिता के पैर पर पैर
समय की आहट से
बेख़बर ?
गोली तीसरी भी
उसने चलाई नहीं
ग़लत –
जब लोग बढ़ा रहे हों
नाख़ून
सैंकड़ों योजन दूर बैठे
व्यक्ति का
माँस नोंच खाने के लिए
उद्यत
और लगा रहे हों प्रतिबन्ध
कि नहीं करोगे
तुम
कोई परीक्षण

अपने नाख़ून बढ़ाने का-
चाहे वह अपनी
फांस निकालने के लिए ही
क्यों न हो।
नहीं उठाओगे अपनी गर्दन
नाख़ूनधारियों के समक्ष
जो खींच सकते हैं
तुम्हारी भी खाल
इतनी सी बात पर
कि तुम
स्वीकारते क्यों नहीं
उनके नाख़ूनों का वर्चस्व -
अपनी तर्जनी के समक्ष ?
तब भी,
अलाप रहा हूँ मैं राग
इन्द्रधनुष का !
कल,
वह मुझे आख़िरी गोली
मारेगा कि मैं
उसके अबोध खेल के
बोध के बाद भी
बाज़ क्यों नहीं आ रहा हूँ
नाख़ूनों पर
ध्यान देने की बजाए
कविता लिखते रहने से,
आख़िरी दम तक!

□□

मोमबत्तियां

शहर की भीड़ भरी सड़कों पर
हाथ में मोमबत्तियां लिए
वह घूमता रहा, फिरता रहा,
दौड़ता रहा
और लोग
दिन के उजाले में
ख़रीदते रहे अन्धेरा।
शाम होते होते
वह हो गया निढाल
थक कर चूर और उदास;
उधर
घर के आंगन में
लोगों ने उंडेलीं
जब दिन भर की
उपलब्धियां
तो थैले उगलने लगे
अंधेरा
तब बहुत याद आया
वह
और उसकी मोमबत्तियां।

□□

रोशनी की तलाश

दिन निकलते ही
प्रविष्ट होना पड़ता है
एक अन्धी गुफा में
जहां
असहनीय सीलन
दम घोंट देती है
और साँप बिच्छुओं का
सानिध्य
करता है विवश
फूंक-फूंक कर पैर रखने के लिए।
टटोल टटोल कर
चलना होता है
इधर उधर सर झुकाए
तब कई बार
टकराती हैं चमगादड़ें
हाथों और मस्तक से
फिर भी गुजरते रहना
होता है इसी
क्रम से।
ऐसे में मन होता है

बहुत बार
बचूं इस गुफा से।
सम्भव कहां पर
बचकर निकलना
पहुंचना ही होगा मुझे
गुफा के उस पार
अन्धकार चीर कर
और मैं –
बढ़ता चला जाता हूँ
रोशनी की तलाश में।

□□

रास्ता

मेरा बाप
कभी हांफता, कभी
माथे का पसीना पोंछता
तो कभी
ठेकें पड़ी हथेलियों को
एक ओर बैठ सहलाते-सहलाते
फिर कुदाल उठा कर
एक पहाड़ काटता रहा
और मैं
उसके पीछे पीछे
उस तंग गुफा में
भीतर जाते जाते
सोचता रहा –
"आखिर
यह पहाड़ क्यों काट रहा है ?
क्या यह असीम पहाड़ काट
यहां रास्ता निकाल पायेगा ?"
मैं अपनी जिज्ञासा
उसके समक्ष रख भी नहीं पाया था
कि मैंने देखा

वह थक चुका था
और उसकी कुदाल के प्रहार
ढीले पड़ गये थे
तब उसने मुड़कर
थकी परन्तु अर्थभरी दृष्टि से
मुझे देखा
और कुदाल मेरे हाथों में थमा
एक ओर बैठ गया!
तब मैंने पूछा
"जिस पहाड़ में पीढ़ियां
रास्ता नहीं निकाल सकीं
उसे ही काटने के लिए
मुझे कुदाल क्यों सौंपते हो ?"
कि पीछे से एक आवाज़ आई;
"मैं जब तक
कुदाल संभालने योग्य बनूं
तब तक तुम
पहाड़ काटो,"
यह मेरा पुत्र था।
और बाप कह रहा था-
"रास्ता निकालना और बात है
और बनाना और,
तुम रास्ता निकालने के लिए नहीं
बनाने के लिए कुदाल उठाओ
और अपने पीछे वालों को
दो कदम आगे ले जाओ।" □□

वसीयत

जी चाहता है
एक छोटी सी वसीयत लिख दूं
अपनी अस्थियां गंगा में
उसी गाँव के घाट
विसर्जित किये जाने की
जहां मैं जन्मा था।
किन्तु
जिसे मैं दिला नहीं सका
क्रिकेट का एक बल्ला,
पिला नहीं सका नित्य
एक प्याले से अधिक दूध;
उसके लिए कौन जाने
बोझा न बन जायें
मेरी यह हड्डियां ?
छोड़ो,
सभी जगह
अपना गाँव है
बोझ बन कर रह जाने से
अच्छा है
रिक्त होकर चले जाना !

□□

शिखर

ईंट पर गारा
और गारे पर ईंट
यदि
यत्न से रखते रहे
तो एक दिन
मीनार खड़ी हो जायेगी,
यह बात
अलग की रही!
देखना यह है
कि
ईंटें चुनते-चुनते
जब तुम
शिखर पर पहुंच कर
नीचे झांकोगे
तब तुम्हें
धरती का आदमी
कहीं
छोटा तो नहीं दिखेगा ? □□

जिजीविषा

तमाम-उम्र
उम्मीद में जीते रहने
का दर्द
समय का सफर
बढ़ाते जाने के
साथ
कितना घनीभूत
हो आता है
जब हर बार
मंज़िल के आस पास
कभी आंधियां
तो कभी तूफान
हमें पीछे धकेल देते हैं
फासला फिर बढ़ता जाता है
समय कम रह जाने के
साथ-साथ
हम फिर चल पड़ते हैं
लहूलुहान;
आंधियां और तूफान
थकते नहीं फिर भी

वे फिर घेर लेते हैं,
हम फिर जूझते हैं
टूट जाने की हद तक।
इस तरह
आज का दर्द
हमें जीने नहीं देता
और कल की उम्मीद
हमें मरने नहीं देती
बस मुट्ठी से
समय फिसल जाता है! □□

संस्कारों की यात्रा कथा

यहां मक्का-बाजरे की फसल
उठान पर है
और तुम हो शहर में ?
याद होंगे तुम्हें वे दिन
जब हम दोनों
मचान पर बैठ
उड़ाते थे मक्की के खेत से
तोते और कव्वे
गोफन में रखकर गुल्म
करते थे धमाका,
और घर पर मां
देखती थी सपना-
हमारे भविष्य का!
मुझे याद है-
पढ़ाई में होशियार थे तुम मुझसे,
इसीलिए मैं कहता था मां से,
कि वह मेरे हिस्से के मगध के लड्डू
और दूध
तुम्हें ही खिलाए, पिलाए;
मैं तुम्हारी बढ़वार के लिए
खाद हो जाना चाहता था।

और तुम
लड़ लिया करते थे, लहूलुहान होने तक
बाहर के उन लड़कों से
जो दगड़े में
मुझे धमका जाया करते थे!
फिर पढ़ लिख कर वर्षों
भटके थे तुम नौकरी की तलाश में;
उन दिनों पूरा परिवार
और मेरे भीतर का मासूम बच्चा
मनाता रहा था दुआएं
तुम्हारे बारोज़गार होने की।
नौकरी लगी थी तुम्हारी अन्ततः
उम्र चुकने की कगार पर
वह क्षण घर भर के लिए
कितनी प्रसन्नता का क्षण था–
साक्षी थे जिस के
पिता की आंखों में आंसू!
याद है,
उस साल दिवाली पर बनाई
तुम्हारे हाथ की कन्दील
गांव की सब कन्दीलों से
कितनी बड़ी और सुन्दर थी ?
जिसमें रखे दीपक की देख-रेख
करता रहा था मैं रात भर
गर्वोन्नत मन से!
नहीं,
शायद तुम्हें वह सब
अब याद नहीं
याद रह गये लगते हैं
मात्र –

चार्टेड बस, कार्यालय में
अफसरी कक्ष, घर-गृहस्थी,
एक शहरी संभ्रान्त व्यक्तित्व
होने का गर्व-भ्रम
अपने ही मन-मन में
निरर्थक
निराधार अहम् का द्वन्द
और
गांव घर के भाई बन्धुओं को
हेय दृष्टि से देखने का
कच्चापन, यथा
अपने को अपनी ही पृष्ठभूमि से
काट लेने का छद्म!
सोचता हूं
मचान पर तुम, और
गांव घर की मुंडेर पर
तुम्हारे हाथ की कन्दील
अब दिखाई क्यों नहीं देती ?
आज
परिवेशवश
तुम्हारे लिए
वह सब निरर्थक
हो गया सही
पर मैं यह जानता हूं
कि गांव की नदी का पानी
कभी रीतता नहीं
और दीपावली पर हर साल
कन्दीलें
अब भी जलाई जाती हैं! □□

दिशान्तर

मैं और तुम
सक्रिय रहे
अपनी अपनी दिशा में!
तुमने ऊंचा बनना चाहा
और बनते गये वैसा, और
मैंने रहना चाहा
सन्तुष्ट
रजकण बनने की स्थिति तक।
फिर इसी क्रम में
तुम आकाश बन
शून्य हो गये
और मैं धरती हो
आधार बन गया। □□

कुछ भी नहीं बदला

कुछ भी नहीं बदला
इस लम्बे समय में
चन्द सवालों के सिवाय!

मेरे गांव की चौपालें
बाखर,
पण्डित जी के
आंगन का नीम
टेढ़े मेढ़े संकरे दगड़े
शाम के अलाव
मिल बैठ कर
बातचीत करने का चाव
आवश्यक वस्तुओं की
दो चार दूकान
आदमी के भीतर
अब भी जीवित रहता हुआ
इन्सान
कुछ भी नहीं बदला
इस लम्बे समय में
मेरी कनपटी के बालों के सिवाय!

काशी से लाया हुआ
दादाजी का शंख
पिताजी के विवाह का पलंग
नाना जी का दिया हुआ बड़ा बक्स
मां वाला पानदान
क्रमिक खानदान
कुछ भी नहीं बदला
इस लम्बे समय में
मेरे झुर्रीदार गालों के सिवाय!

किशोरों की कीच सनी गेंदें
युवकों के खून का उफान
कुछ कर गुज़रने का औसान
युवतियों के रंगीले सपने
कभी-जभी की
छेड़-छाड़
प्रौढ़ों के बोझ अभाव
और वृद्धों के अनुभव
कुछ भी नहीं बदला
इस लम्बे समय में
मेरे ही ख़्यालों के सिवाय! □□

नदी सुनती हो क्या ?

नदी
तुम सोती क्यों नहीं ?
रात दिन
सुबह शाम का अर्थ
तुम्हारे लिए भी
अलग-अलग क्यों नहीं होता ?
नदी, तुम थकती क्यों नहीं ?
निरन्तर बहते रहना
और बूंद-बूंद (होकर) बंट
जीवन को तृप्ति देकर भी
कहीं लिप्त होना
तुम्हें क्यों नहीं भाता ?
नदी, तुम बोलती तो हो
पर सुनती भी हो क्या ?
यदि हां, तो सुनो।
मुझे बहुत बार लगता है कि तुम
मुझमें, मेरे पूर्वजों में से
प्रवाहित होती हुई
मेरी सन्तान में से गुज़रती
बहती चली जा रही हो!
नदी, तुम सुनती भी हो क्या ?

□□

और वहां कोई नहीं

निर्जन में
नील झील
झील में उतरा चाँद
बिना पद्चाप
हिलोर ही हिलोर
और वहां कोई नहीं!

×××

अन्तस में
कोई एक दर्प
बिखरा
किर्च-किर्च
बे आवाज़
और वहां कोई नहीं!

×××

बाँस का वन
पवन चक्राकार
चतुर्दिक आग ही आग,
आग की लपटों में
ख़रगोश
और वहां कोई नहीं!

×××

रेत पर बनते
मिटते चिन्ह
मुट्ठी से फिसलता
काल
बे अहसास
और वहां कोई नहीं!

×××

अनन्त रेगिस्तान
रेगिस्तान में
एक पेड़
पेड़ पर एक ही
पात
और वहां कोई नहीं!

×××

चिनार और
बर्फ
बर्फ और
चिनार
बीच में बन्दूक
और वहां कोई नहीं!

×××

पाण्डव और कौरव
शकुनि
और चौसर की
बिसात
अकेली द्रौपदी
और वहां कोई नहीं!

□□

लड़कियां

लड़कियां अब नहीं रहीं
बेचारी
वे चूड़ियों की जगह
पहनने लगी हैं पंजा
कमर में बांधती हैं
पेटियों की जगह
साइकिल की चेन
सीखती हैं जूडो-कराटे
और तोड़-फोड़ सकती हैं
कॉलिज का द्वार
शोरूम के शीशे, गमले और
खिड़कियां।
छात्र-संघ के चुनाव में
फोड़ सकती हैं प्रतिपक्षी का सर
और चला सकती हैं
गोलियां उन्माद में।
आख़िर कर ही ली बराबरी लड़कों से
हिंसात्मक मुहाने पर भी।
लड़कियां-
अब नहीं रहीं बेचारी।

□□

ग़ज़क

पूरी सर्दी सोचते रहने
के बाद
आज जुटा पाया है वह
ढाई सो ग्राम गज़क
चार प्राणियों के बीच;
पत्नी इतनी है प्रसन्न
कि थैली रख दी है उसने
पहले भगवान जी के
आले में।
मुनिया बड़ी है
मुन्ने से, इसलिए
रखे हुए है
सब्र;
पर मुन्ना भूल गया है
खेलते रहना
गज़क आने के बाद।
बंट गई है गज़क
चार हिस्सों में
उसने अपना हिस्सा
पुनः बांट दिया है

बच्चों में!
मुन्ना सो गया है
और मुंह से लिपटी है
गज़क,
वह उसके चेहरे को
देखे जा रहा है
लगातार
उसे लग रहा है
पहली बार
एक बाप होना
क्या होता है ?

□□

गूंज – जो शेष रह जायेगी

लगता है
जहां जहां मेरे हस्ताक्षर हैं
दफ्तर की फाइल में
या किसी पत्रिका में
प्रकाशित रचना
के नीचे छपा मेरा नाम
वहां-वहां
मैं
अपने को अपने से
अलग देख पाता हूं
उतना ही प्राणवान
उतना ही जीवन्त
जितना मैं स्वयं हूं।
किन्तु कालान्तर में
फाइल फट-फटा जायेगी
पत्रिका एक दिन
रद्दी बन जायेगी
देह भी धोखा दे जायेगी
बस एक गूंज है
जो शेष रह जायेगी।

□□

ठाकुर की हवेली

न रहे बद्री बाबा
न नौबत चाचा
गांव के बीच से
गुज़रता दगड़ा
बदल गया डामर की
सड़क में-
नदी के घाट तक।
अलाव की जगह
बन गया है पंचायत-घर,
ताऊ-चाचा का स्थान
ले लिया है सरपंच
और मुखिया ने;
धन्ना चमार
की बेटी के ब्याह पर
ठाकुर शेरसिंह ने
नहीं भेजे दो बोरी
गेहूं इस बार-
उसने क्यों छपवाये थे कार्ड
बेटी के विवाह पर
चमारों की परम्परा

और
गांव की मर्यादा के
विरुद्ध ?
क्यों गुज़री थी बारात
ठाकुर साहब की बैठक
के सामने से
बैण्ड बाजों के साथ ?
हो गई सही
उन की हवेली जर-जर,
बन गये सही अनेक
दुमंज़िले मकान पक्के
खटीकों के
पर
दबदबा तो रहना ही
चाहिये
ठाकुर की बैठक का
सदा की भांति !
ठाकुर बुढ़िया गये हैं बहुत
सुनना, दीखना भी हो गया है
कम,
वे नहीं सुन पाते
अपने पुराने रथ के बजाय
जुलाहे नरपत की
मोटर साइकिल की आवाज
वे नहीं समझ पा रहे
अपना बदलता वक्त,
वे नहीं देख पा रहे
करवट लेते गांव का
आकार, प्रकार !

□□

स्वीकारोक्ति

सुबह से ही
मैंने लड़ना प्रारम्भ किया
और शाम तक
किसी को ज्ञान के बल पर,
किसी को आवाज़ के जोर पर,
तो किसी को
येन-केन-प्रकारेण
तर्क के बल पर
हराता चला गया।
किन्तु शाम को
अन्तिम लड़ाई हुई जब
अपने ही मन से
तब ज्ञात हुआ
मैं कितना दुर्बल था ? □□

सिंघाड़े की बेल

तुमने
मेरे साथ चलने से
सिर्फ इसलिए इन्कार
कर दिया
कि तुम्हारे अनुमानुसार
जल की गहराई
क्या होती है की समझ
तुम्हें और मुझे न होने पर भी
मैं तुम्हें उस तालाब के
बीचों बीच
सिंघाड़े की बेलों तक
ले चलने का आग्रह
करता रहा–
जिस की सतह पर तुम्हें
मात्र काई नज़र आती रही।
काश!
मेरे पास अनुभव की उम्र
और तालाब का मर्म
न होता
तो मैं भी काई की दुर्गंध

से विचलित हो
तालाब में उतरने से इन्कार
कर देता–
ठीक वैसे ही जैसे तुमने
दुर्गंध और फिसलन से
विचलित हो
पानी की गरिमा को भी
नकार दिया।
अब
मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूं
जब मेरे प्रयत्न
सतह पर तैरती काई को
तालाब के एक कोने में
समेट देंगे
और जल
जो अपनापन कभी नहीं खोता
तुम्हें भी स्वच्छ
और पारदर्शी दिखेगा
गहराई के बावजूद।
तब
तुम ही मुझ से कहोगे
''चलो,
तालाब के बीचों बीच
उन सिंघाड़ों की
बेलों तक
मेरे साथ चलो।''

□□

बीज, वृक्ष और मैं

मैंने एक साथ
दो बीज बोये
एक मिट्टी में,
दूसरा मन में,
जब दोनों ने
अपनी अपनी धरती
फोड़ी, जड़े पकड़ी
और बड़े हुए
तब मैं
स्वयं और
मन के पेड़ में
अन्तर न कर पाया
अपने को ही वृक्ष समझ
सोचने लगा
मिट्टी में बोया बीज
वृक्ष बन,
मेरे बराबर कैसे हो गया ?
इसकी जड़ में उंड़ेला
मेरा मोह
जाने कहां खो गया

फिर मुझे उसका साथ
खड़ा रहना
कम भाया
मैं शकालू हो
दूर चला आया
तब उससे छाया
मिलने की आस ने सताया।
काश!
छाया पाने के बीज को
उस दिन मन में न बोता
तो आज मैं
पेड़ नहीं, आदमी होता
और छाया में बैठने के
सुख को न रोता
क्योंकि
छाया देना पेड़ की
इच्छा पर नहीं/पाना
मेरे यत्न पर
निर्भर था।

□□

जहां नदी बहती थी

मेरे गांव के पास
जो नदी बहती थी
उससे
गांव वालों का
भावनात्मक लगाव था
और न जाने कब से
लोग उस के प्रति
आस्थावान थे
मुझे ज्ञात नहीं
उसमें आई बाढ़ों को
उन्होंने कितनी बार सहा
और अपना यह दर्द
किसी ग़ैर को तो क्या
स्वयं उससे भी नहीं
कहा।
यह सब,
स्वार्थवश होता तो
पास बहती नहर
उपेक्षित न रहती
अपना एकाकीपन

यूं ही न सहती
गांव के लोग
नदी और नहर का
अन्तर जानते थे
इसलिए
नदी को ही अपना
मानते थे
अब उस नदी का
मार्ग बदल गया है
वह कहीं और होकर
बहती है
किन्तु गाँव के लोग
उस सूखे कटाव को
अब भी
नदी कहते हैं
उसके लिए
भावनाओं में
बहते हैं। □□

समय के हस्ताक्षर

समय की उफनती
नदी पार करने हेतु
हो लेना मुतमइन
औंधे मुंह मटकों
के डाँगे पर
ठीक-ठीक वैसे है
ज्यों रहता शुतुरमुर्ग़
रेत के छलावे में।
किन्तु वेग पानी का
अथवा
मटकों में भरी वायु
कौन कह सकता कब
उलट पुलट दे नौका
और तुम ले डूबो
उन सारे लोगों को
सौंपकर पतवार तुम्हें
जो तुम पर निर्भर हैं।
इसीलिए/सावधान
मात्र नाव खेना नहीं
पार भी लगाना है

खेल मल्लाही का
अब नहीं रचाना है
चाहते हो हस्ताक्षर
बनना समय के यदि
लोगों की अपने प्रति
निष्ठा में उतरो तो
पाओगे सत्यनिष्ठ-
रहने की शर्त पर
सो दुःख भोग, सह
एक साथ डूबने
अथवा पार जाने को
वे सब तैय्यार हैं। □□

ताजपोशी

उन्होंने अभी अभी
जो पौधा रोपा है
उस की जड़ें, अभी
इतनी ही गहरी हैं कि
उस का आकार
मात्र बिरवे जितना रहे
आंखों को भा जाने भर
के लिए पर्याप्त।
इसलिए वे
इसे अभी धूप-ताप से
बचायेंगे
जड़ में पानी और खाद
भी लगायेंगे
और जहां तक हो सकेगा
पर्यावरण की शुद्धि के लिए
इसे,
अपनी पहल तक बताएंगे
साथ ही
अपने बगीचे की
सुन्दरता और बंगले की

शान बढ़ाने के काम में
भी लायेंगे।
किन्तु
जब होगा यह
बड़ा और झालरा
निकलेगा मुंडेरों से ऊंचा
और कद्दावर
ढंक लेगा बंगले का
मुख्य द्वार
तब होंगे वे चिंतित और
भयाक्रान्त
हड़बड़ायेंगे अपने बंगले की
दीवारों और नींव में
दरारें पड़ जाने की आशंका से
त्रस्त,
हिचकेंगे नहीं (तब) वे
खोदने में इस की जड़ें
उखाड़ फैकेंगे इसे
जड़ मूल से
बिना किसी मोह के
बिना किसी क्षोभ के। □□

* श्री चन्द्रशेखर को प्रधान मंत्री बनाए जाने पर

गतिशील

सूखे कुछ पत्ते
हवा से उड़ कर
नदी के बहाव में
बह चले;
जल प्रवाह गौण हुआ
लगा
पत्ते ही गतिशील हैं!

ज्ञान

दुर्व्यवहारी
मानव का ज्ञान
ज्यों शैल्फ में
रखी किताब मूल्यवान।

□□

उपलब्धि

दिन निकला
हम ने अपने आप को
पत्रों की भान्ति
क्रम में डाल दिया
शाम को लौटे
तो ज्ञात हुआ
जैसे जवाबी-पत्र
लौट आया हो
कोरा।

बोध

धधकते कोयलो !
किसी को भस्म करने की
कुचेष्टा से पहले
क्या तुम्हें
जलने की पीड़ा का
बोध नहीं ?

□□

साकार-निराकार

दुनिया में मैंने
दो ही पुण्य कर्म किये
पहला संसर्ग
दूसरा दाह संस्कार
एक
ब्रह्म को साकार
करने की क्रिया
और दूसरा
साकार को निराकार
करने का क्रम।

मौन

मौन सीसा सा
पिघलकर भर गया है
दर्द की हर दर्ज में
इसलिए
मैं दिख रहा हूं खुश
बहुत खुश
ज़िन्दगी के अर्थ में।

□□

रंग

कलशों में भरा रंग
टेसू के फूलों में से
निचुड़कर आया है
इस वेदना पर
तुमने कभी ध्यान दिया ?
नहीं।

देते भी क्यों ?
तुम्हें तो अपना रंग
गहरा करना था।

मोह

अनगिनती सुधियां
एकत्र हो गई हैं
खाली, दवा की सी सुन्दर
शीशियां
जिन्हें संजोकर रखने का
कुछ अर्थ नहीं
पर
फेंका भी नहीं जाता। □□

स्वतंत्रता

बर्फ के टुकड़ों की भांति
बन्द हो गये हैं हम
स्वतंत्रता के थरमस में
शून्य के बीचों बीच
रक्षित है हमारा
जीवित रहने का
अधिकार
लाचार।

याद

कभी कभी
भूली बिसरी यादें
संवेदन में ऐसे आती हैं
उतर
जैसे उभर आयें
गीले काग़ज़ पर -
कार्बन-पैंसिल से
लिखे हुए अक्षर।

□□

बुलन्दी

आकाश
तुम्हारी बुलन्दी
तब तक ही थी
जब तक
मैं तुम्हारी ओर देखता रहा
ज्यों ही मेरी दृष्टि फिरी
तुम मुझे
धरती के चरण
छूते नज़र आये
तुम्हें ज्ञात नहीं
तुम्हारी बुलन्दी का मर्म
मेरी दृष्टि पर
निर्भर था!

□□

प्रतिस्पर्धा

अनादिकाल से
मेरा और तुम्हारा व्यक्तित्व
अपनी अपनी जगह रहा।
तुम फिर भी आंधियों के साथ
उड़ानें भर
मुझे यह दिखाने के लिए
कि मेरे समकक्ष भी हो सकती हो
एक काल्पनिक प्रयास करती रहीं;
शायद तुम्हारे मन की ईर्ष्या
ताप को
मेरा दम्भ समझने के भ्रम
के कारण रही हो,
पर
क्या यह सत्य नहीं
कि मेरे बराबर होने की
तुम्हारी इच्छा, अभिलाषा
तुम्हारे ही भीतर
एक लघुता का द्योतक थी ?
और मैंने
यह जानते हुए भी कि मेरा ताप

तुम्हें सृष्टि की शक्ति देता है-
मेरे समकक्ष होने की तुम्हारी
इच्छा, उपक्रम का कभी
इसलिए उपहास नहीं किया
कि तुम
शीतल वसुन्धरा थी
इसीलिए मेरी तरह
कभी नहीं ढली।
अर्थात,
उम्र-भर
हम एक दूसरे के गुण के प्रति
सचेत तो रहे
पर
अन्तर इतना ही था
कि तुम कुण्ठाग्रस्त थी
और मैं श्रद्धावनत
अन्यथा
सूर्य होते हुए भी
हर शाम
तुम्हारे चरणों में
अपने आप को
नतमस्तक क्यों पाता ? ◻◻

सम्बन्धों का अंत

कभी कभी दम इतना क्यों
घुटता है कि
सभी अपनों के चेहरे
एकदम पराये लगने लगते हैं ?
कितनी विचित्र है
यह दुनिया !
कि छोड़ना नहीं चाहता कोई
अपनी आदतें, अहम्मन्यता, स्वार्थ
करते जो आहत अपनों को
और फिर
प्रकारान्तर से स्वयं को।
सचमुच ऐसे वक्त
दम बहुत घुटता है।
विचित्र है यह समय भी
जब समझना ही नहीं चाहता
कोई कुछ
अपनी झौंक में
आश्वस्त रहते हुए कि
जिया जा सकता है

ऑक्सीजन बगैर/उम्र भर!
ऐसे कितनी देर रोकी जा सकेंगी सांसें
कार्बन डाइआक्सॉइड के बीच ?
अन्ततः
जब दम घुटने लगेगा बहुत
और फूलती ही जायेंगी सांसें
तब भागना ही होगा
उन्हें
खिड़कियों, दरवाज़ों की ओर
जिन्हें वे पहले ही बन्द कर चुके हैं
और जिनकी सांकलें-चिटखनियां
समय की जंग से
जाम हो चुकी हैं!

बेले की बेल

बहुत दिन हो चले
बेले की बेल को
सूखे हुए।
न कोंपले फूटीं
और
न आये पत्ते इस वर्ष,
फूल भी खिले नहीं
इक्के-दुक्के।
घर में लगने लगा है
सभी को पत्नी समेत
कि निकाल फैंका जाय
इस झाड़ को अब!
वितृष्णा पैदा करती है
सभी की यह इच्छा।

आखिर
बेल कब तक
फूल देती ?

□□

अप्रिय आलपिनें

कार्यालय की खिड़की से
आती तेज़ हवा के झौंके
मेज पर रखी फाइल के
पन्नों को चैन नहीं लेने देते;
ड्राफ्ट में किया गया
अवाच्य संशोधन सा
लम्बा दिन
विकल्पहीन हो उठता है,
और अप्रिय आलपिनें
उंगली के पोरुओं को
सतर्क रहने पर भी
छेद जाती हैं,
तब मन कसैला हो उठता है
किन्तु सांझ को
नन्हीं-नन्हीं बाहें
भोली तुतली भाषा
उन सबसे जीत जाती है
और मन
स्वर्ग में खो जाता है।

□□

समय - ठहरोगे नहीं ?

समय
दो घड़ी ठहरोगे नहीं,
थक गए होगे
दौड़ते दौड़ते ?

नहीं
मैं रुकूंगा नहीं।
रुका
तो तुम्हारे लिए
सुबह-शाम, रात-दिन
सूरज, चाँद, सितारे
और ऋतुएं
कौन लायेगा ?
तुम्हें सोने से
कौन जगायेगा ?
यूं ठहरे समय में
तुम्हारा जीवन
कितना अर्थहीन हो जायेगा ?
नहीं,
मैं ठहरुंगा नहीं।

□□

शोक सभा

मैं भी गया था
मित्र के पिता की
मृत्यु पर – शोक सभा में।
ढेर सारे मित्र उसके
बैठे थे मुंह लटकाए
इतने पीले चेहरे लिए
जितना उसका भी नहीं था
वह तो मात्र – हर आने वाले को
सूखे मुंह से
मृत्यु का वृतान्त सुना रहा था
और दुःख, जैसे
आने वालों के भाग में बदा था।
पर ज्यों ही शोक सभा समाप्त हुई
लोगों ने सड़क पर आ राहत की सांस ली
जैसे दुःख की कारा से मुक्ति मिली
फिर बातें होने लगीं
वही सिनेमा की,
एक दूसरे की पत्नियों की
सड़क के रोमांस की।

□□

सुकून-सुख और सन्तोष

कितना अच्छा होता है
साधारण जन होना
मात्र दो जून की रोटी
और नित्यप्रति की दिनचर्या
और बस।
न कोई सोच
न संवेग
सन्तुष्ट अपने हालात से;
बस इतनी सी दुनिया
और चले जाना
चुपचाप
बिना किसी पद्चाप!
काश!
मुझे यह सुकून प्राप्त होता
अपने अस्तित्व के अहसास के साथ ?
कितना अच्छा होता है
अनुभव अर्जित करना
और फिर बांटना
रचना के माध्यम से
छोड़ जाने को अपने पद्चिह्न

लोगों को गन्तव्य तक
पहुंचने के लिए
काम आ जाने निमित्त!
काश!
मुझे यह सुख प्राप्त होता
अपनी सृजनात्मक क्षमता की उपयोगिता के साथ ?
कितना अच्छा होता है
समय से जूझना
किसी मुहिम के लिए
कभी जीतना, कभी हारना
मूल्यों के लिए लड़ पाना
निरन्तर
अपने शून्य के वृत्त से
निकल कर!
काश!
मुझे यह सन्तोष प्राप्त होता
अपनी अकिंचनता के बोध के साथ ? □□

अकाल

फिर उतरती आ रही है सांझ
बोझिल हो गया वातावरण
दम घुट रहा है
अस्त होने जा रहा सूरज
और उग पाया नहीं है चाँद
मौन पसरा जा रहा है टहनियों पर
सूख कर पत्ते झरे जो
एक कोने में
सिमट कर रह गये हैं
दरकनों से भरी धरती को
प्रेत-छाया सा
अन्धेरा घेरता है
थका-मांदा लौट आया श्रम
हताशा से भरा, असफल
विवश उस झोंपड़ी में
कुम्भ रक्खे रिक्त
और वह
दिन की तृष्णा से त्रस्त
बैठी महरिया आंखें बिछाए
शून्य का सैलाब

उमड़ा दृष्टि पथ में
टूटते मन के सिवा क्या
पास उसके
जो करे अर्पित
कसैला तिक्त यह क्षण
तीर जैसा धंस रहा है कलेजे में
पास में हैं महज़ अपने
हाथ/पर बेकार,
जुड़कर रह गये जो
प्रार्थना में;
चलो अब तो
छोड़ दें यह देस
पत्थर बांध करके
पेट, छाती पर
कभी फिर लौट आने को। ◻◻

संवाद पिता से

तुमने जैसे-जैसे उम्र पाई-
हताश और निराश होते गए
पर मैं,
मैंने अभी आंख खोली है तो
वैसे ही किलकार रहा हूँ
जैसे तुम
अपने गए समय की
दुहाई देते रहे हो,
मैं भी उसी चपलता में
नृत्यरत हूँ
जिसके लिए तुम्हारी मां
तुम्हारे कान उमेठ देती थी।
समय के समक्ष
सूरज आज भी गर्मजोशी से
उगा है
सरसों ने खेतों को
फिर पीली चूनर उढ़ाई है
पक्षियों का कलरव भी है
यथावत
और सम्भावनाओं का

अन्तरिक्ष
खुला निमंत्रण दे रहा है
कि उड़ो, ऊंचे और ऊंचे
उड़ो
नापो धरती-आकाश के
ओर छोर
व्यवधान कहां है
तुम्हारे सम्मुख ?
हताशा और निराशा के लिए
नहीं हैं पंख
इसीलिए
मुझे भरपूर उड़ान भरने दो
मेरे पिता श्री
तुम से अधिक कठिन यात्रा
है मेरे समक्ष -
और मैं तैय्यार हूं। □□

नॉटी

बहुत खूबसूरत है वह
सफेद-झक्क
छोटी सी गोल-मटोल
गले में पट्टा और ज़ंजीर
जैसे जेवर हों उसके
मालिक बहुत प्यार करते हैं
उसे/प्रातः
स्वयं ले जाते हैं घुमाने।
सराबोर है वह
आभिजात्य रंग में
निवृत होना भी
पसंद नहीं उसे
किसी गंदी जगह पर।
फिर भी
टहल के समय, जाने क्यों
सड़क-छाप कुत्तों को
देखती है
हसरत भरी नज़र से
बार-बार, लगातार।

□□

चीलें

गगन में उड़ती चीलो!
तुम्हारा लक्ष्य
आकाश छू आना है
या धरती पर पड़े
मांस के लोथड़ों की तलाश ?
देखो – धरती की आँख में
धूल न झोंको
वह हर उड़ती चिड़िया
को पहचानती है
इस पर भी तुम
ऊंची उड़ानों का
भ्रम पाले रही
तो एक दिन
तुम्हारी छाया भी
धरती पर न आ पायेगी
आकाश
तुम पा नहीं सकोगी
धरती तुम्हें भूल जायेगी।

□□

वैक्यूम

मेरे नगर की चौड़ी सड़क
कभी बड़ी मनमोहक थी
सुबह से ले शाम
देखा करता था मैं
मोटर, रिक्शा, तांगे, कार
पैदल और
साइकिल सवार।
सब की आगे जाने की
एक होड़
जी तोड़!
तब
कुछ दुर्घटनाए होती थीं
तो क्या ?
पर सब मिल जुल कर
चलते थे
एक दूसरे को
रास्ता बचाकर
निकलते थे।
फिर
व्यवस्था के नाम पर

सड़क को
तीन हिस्सों में बांट
दिया गया
मोटर-कारों के लिए
रिक्शा-साइकिल सवारों के लिए
और पैदल-गंवारों के लिए।
इस से दुर्घटनाएं कम हुई
या अधिक
यह तो व्यवस्था वाले जानें
पर
श्रेणियों की बीच का वैक्यूम
और बढ़ गया
सड़क का भाग्य
तीन हिस्सों में बंट गया। ☐☐

तथ्य

अथाह सागर की
कौन कितनी गहराई से
मुट्ठियां बन्द लेकर
लौटा है
इसका
न तो किसी को ज्ञान है
और न
उनकी रिक्तता का बोध
फिर भी
हर गोताख़ोर की दृष्टि
अपनी मुट्ठी पर नहीं
तट के दर्शकों पर है।

□□

प्रक्षेपण

पिता के प्रक्षेपास्त्र ने
मुझे जहां किया प्रक्षेपित
मैं उसी ऑरबिट में
परिक्रमारत रहा निरन्तर-
पूरी शक्ति के साथ
तथापि
आकर्षित करते रहे दिनरात
अनेक प्लानेट्स
ग्लोबल दीप्ति के
आकाश कुसुम की भांति।
और मैं झौंकता रहा
अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा
प्रक्षेपास्त्र में
चमकीले ऑरबिट में प्रवेशार्थ।
करता रहा इन्तज़ार
उल्टी गिनती का
कब हो प्रारम्भ और
भेदता चला जाऊँ अंतरिक्ष
तीव्र गति मिसाइल सा
पहुँचूं वहां जहां सार्थक लगे

मुझे अपना स्थापन;
भेजूं फिर चित्र
उस लोक के सतरंगे
अभावों की धरती पर
नींद से जगाने को।
किन्तु मुझे अनवरत
जकड़े ही नहीं रहा गुरुत्वाकर्षण
अपने इस पिण्ड का
वरन्
अन्य प्लानेट्स की परिधि भी
करती ही रही रिपल्स मुझे
बार-बार, लगातार।
फिर भी यह निश्चित है
छोड़ूंगा नहीं यत्न
और अधिक आधुनिक
मिसाइल बनकर मैं
चमकीले प्लानेट की
परिधि भेद डालूंगा
पहुंचूंगा केन्द्र तलक
एक न एक दिन
तब तक-
और
मुझे मेरे दुःसाहस
अभी और थोड़ा इंतज़ार! □□

मितव्ययता

मेरी फटी
कमीज़ में से
पत्नी ने
निकाल लिया
ब्लाउज़
और फटे ब्लाउज़ में से
रूमाल
इसे मितव्ययता कहें
या पत्नी का कमाल
अथवा
बुरा हाल! □□

चार खाईयां

एक

मैंने एक खाई
खोदी है, अपने
और अपने प्रियजनों
के बीच
एक निश्चित दूरी
बनाये रखने के लिए
अन्यथा
निपट सामीप्य
दोनों के सम्मान को
सुरक्षित न रहने देता!

दो

मैंने एक खाई पाटी है
अपने और अपने से
विमुखों के बीच
एक अप्रिय दूरी
मिटाने के लिए
अन्यथा

उन का भ्रम-कलुष
एक मानव को
भीतर से खाता रहता!

तीन

मैंने एक खाई
अधखुदी छोड़ी है
अपने
और अपने से मात्र
परिचितों के बीच
ताकि
शिष्टाचार की परिभाषा
यथावत रह सके!

चार

मैंने एक खाई
अधपटी रहने दी है
अपने
और अपने ही बीच
ताकि
औचित्यानुसार
सक्रिय रह सकूं। □□

एक वृतांत

सारी उम्र बीत गई
विसंगतियों के बीच।
मुड़कर देखता हूं तो
कुछ भी तो अच्छा नहीं था
दक्षिणी ध्रुव में
न भूगोल
न इतिहास
न संस्कृति, न संस्कार
न समन्वय की सहिष्णुता
जो दे पाती कभी कुछ सुकून,
उम्र-भर हथौड़ाबाज़ी के
मध्य!
होता रहा लहूलुहान
और
सहता रहा हर प्रहार
किस निमित्त/ज्ञात नहीं ?
तथापि आईं कुछ बहारें
प्रकृतिदत्त
जुड़े रहने के पठार पर,
भरपूर प्रसंन्नता

तब भी कब मिल पाई ?
धकेलते ही रहनी पड़ी दिनचर्या
वितृष्णाओं के साथ
व्यर्थ होते समय को
दर्शक बने देखा किया
छटपटाहट के जंगल में
विरोधाभासों को झेलते हुए।
बावजूद इसके भी
जब-जब लगी आग
अथवा
आया तूफान
तब-तब
जाने क्यों जुट गया
उसी ध्रुव की रक्षार्थ
जिस से मुक्त होना
चाहता रहा था मैं। □□

सम्बन्ध

इस लम्बे अन्तराल में
सम्बन्धों का
औपचारिक
होते चले जाना
अच्छा भले ही न रहा हो
पर इस से
इतना तो हुआ
कि हम
उनके बिना भी
जीवित रह सके
जिन के बिना हमें
हमसे वैसी अपेक्षा नहीं थी! □□

लोहा

लोहा
जब बहुत गर्म था
तब
कोमल और द्रवित भी
उतना ही था
कुछ भी रूप
पा जाने के लिए।
आज
समय की सर्द हवाओं ने
उसे ठण्डा कर दिया है,
अब क्या हो सकता है
इसका
जंग लगने के सिवाय ?

□□

पानी की आग

यही हुआ न ?
मुझे विभिन्न स्थितियों में
रखने के उपरान्त भी
यही रहा
कि तुमने अपना स्वार्थ
नहीं छोड़ा
जब कि मेरा अस्तित्व
तुम्हारे ही निमित्त रहा।
पर तुमने मुझे
अस्मिता विहीन समझ
उस स्थिति तक पहुंचा दिया
कि मेरा आहत स्वाभिमान
विद्युत हो उठा
अर्थात
शीतलता मेरा स्वभाव है तो क्या,
मैं आगहीन नहीं था।
तुम फिर भी अनभिज्ञ रहे
कि मेरी आग
तुम्हारे लिए प्रकाश क्यों हो उठी ?

□□

ज़र्द हुआ चेहरा

मैंने तो मन से
बस इतनी सी बात कही
''क्यों रे
तू औरों के दुःख से
सुख पाता है ?''

ज़र्द हुआ चेहरा
फिर इधर उधर
झांका वह,
बोला

''सच है, पर मन तो मैं
सब का ही ऐसा हूं
इसीलिए अच्छा है
तुम भी अब मौन रहो
मैं भी चुपचाप रहूं।''

□□

अन्तराल

वह जो कभी
मेरे सामने
घुटनों
या
धीरे-धीरे डगमग पग
चला था
मेरी उंगली पकड़ कर
आज
मेरी बांह थाम
मेरे धीरे चलने पर
झुंझलाता है
और उस समय
के अपने गिर-पड़
चलने पर
मेरी खुशी को
भुलाता है
इतना ही अन्तर है
समय के अन्तराल का
उस में
और मुझ में।

□□

यात्रा

बड़े सपनों के साथ
जो यात्रा शुरू की थी
वह अब
पहाड़ की तलहटी में
आकर ठहर गई है
और सारे यात्री
यहां तक पहुंचने की
घटनाओं में रस ले रहे हैं।
आगे पहाड़ है
जिसके पार दृष्टि
न जा पाने से
पीछे छूटे मनोहारी
दृश्यों की ओर मन खिंचता है।
पर उधर देखने से क्या होगा ?
पहाड़ के पार की सुरम्यता
यदि देखना है तो
अब तक की सफलता पर
सर ऊंचा करना ठीक
मगर
पहाड़ पर चढ़ाई को
झुककर चढ़ना होगा।

□□

कन्फैशन

मैंने लहलहाते खेतों के
क़सीदे नहीं पढ़े
नहीं गाये गीत खुशहाली के
मुझमें उस अनावृष्टि का भय व्याप्त था
रच डाली थीं अनगिनत कविताएं
जिस पर,
और वे खूब छपीं यहां वहां
पत्रों में, मुझ को यश प्राप्त हुआ
उन सब के मूल्य पर
जो भूखे पेट रहे/समय के रू-ब-रू।
पर मैंने उनके हित
एक बार भी तो
नहीं, कभी उपवास रखा।
यानी ऐसे यश का
प्रायश्चित भी नहीं किया।
धरती सरसब्ज परी आज बन आई है
खेत लहलहाए हैं
शुभ तो है यह सब पर
मैं मेरी ग्लानिवश
बेबस हूं मौन हूं।

□□

कपोत, कुर्सियां और चन्दनवन

उड़ते रहे श्वेत कपोत
निरन्तर
और कटते रहे चन्दनवन
बनती रही कुर्सियां।
फहराते रहे
शान्ति-ध्वज आकाश में
चहुं ओर
उड़ती रही चन्दन गन्ध
और मुग्ध होता रहा
कुर्सी में धंसा आदमी
सुगन्ध को अपनी ही गन्ध का
भ्रम लिए ?
कपोत उड़ते-उड़ते
कब तक नहीं थकेंगे ?
चन्दनवन कटते-कटते
कब तक नहीं घटेंगे ?
कबूतर उतरेंगे अब
कहां ?
शाखों की जगह
कुर्सियां ही कुर्सियां हैं
यहां।

□□



मुकुट सक्सेना

जन्म

2 अक्टूबर, 1938; बसावनपुर सिहा

जिला - अलीगढ़ (उ.प्र.)

मां श्रीमती गंगा, पिता श्री देवीदयाल सक्सेना

लेखन विधा

गीत, ग़ज़ल, कविता, कहानी, लघुकथा, व्यंग्य एवं आलेख।

प्रकाशन

जुड़वा-भौंहें (कहानी संग्रह)

शब्द यात्रा पर हैं (गीत, ग़ज़ल संग्रह)

कुछ रचनाओं का अनुवाद भी प्रकाशित

आकाशवाणी, दूरदर्शन केन्द्र, जयपुर से प्रसारण।

संकलित

जय हिन्दी जय हिन्दुस्तान, गीत और गीत-2, टुकड़े-टुकड़े जिन्दगी (कहानी), याम-2, गीत और गीत-4, गीत चाँदनी, युगदाह (लघुकथा), मध्यान्तर-5, गीत और गीत-5, ग़ज़लकार, धार पर हम, सितारे धरती के, सृजन-2, ब्रज विभूति-4, राजस्थान का लघुकथा संसार।

पत्र-पत्रिकाएं

देश की लगभग समस्त शीर्ष हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशन।

दायित्व वहन

अंजुमन बहार-ए-अदब (अलीगढ़), उपाध्यक्ष 1960-61, साहित्य संस्थान, जयपुर, उपाध्यक्ष 1967-68 एवं अध्यक्ष 1973-74, केन्द्रीय सचिवालय, हिन्दी परिषद, शाखा ए. जी. राजस्थान, जयपुर, शाखा मंत्री 1973-74 एवं उपाध्यक्ष 1974-75, जय साहित्य संसद, जयपुर अध्यक्ष 1993, सह-संपादक : युग बोध, युग चिन्तन, घूमर एवं लेखा परीक्षा अर्चना।

सम्मान

साहित्यकार सम्मान-1996, जय साहित्य संसद द्वारा,

महाकवि बिहारी पुरस्कार-1998, साहित्यिक संस्था मित्र परिषद द्वारा।

सम्पर्क

5-ग- 17, जवाहर नगर, जयपुर - 302 004 (राजस्थान)

दूरभाष : 0141-662195